

और न टले शिक्षा अधिकार का कानून

डॉ. विनोद रायना का सवाल है कि वह नीति निर्देशक सिद्धांत कब तक उपेक्षित रहेगा कि देश के सारे बच्चों को मुफ्त शिक्षा मिलना चाहिए। इससे जुड़ा दूसरा सवाल शिक्षा की गुणवत्ता का है। कहीं इन दोनों चीजों को कमजोर तो नहीं करता जा रहा है राज्य?

भारत के बच्चों के साथ 70 साल पहले जो अन्याय हुआ था, उसे दुरुस्त किया जाएगा, यह खबर बहुत सुखद है। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) सरकार शिक्षा का अधिकार विधेयक को संसद के वर्तमान बजट सत्र में प्रस्तुत करने को लेकर गंभीर लगती है।

1937 में गांधीजी ने जब सबके लिए शिक्षा हेतु पर्याप्त धन का हवाला आह्वान किया था तो जवाब यह मिला था कि इसके लिए यदि कोई व्यवस्था हो सकती है, तो वह शराब बिक्री से प्राप्त राजस्व से ही हो सकती है। गांधीजी ने अपना रोष दोटूक शब्दों में व्यक्त किया था: “नए सुधारों की सबसे निर्मम विडंबना इस तथ्य में नज़र आती है कि अपने बच्चों को शिक्षा देने के लिए हमारे पास शराब से प्राप्त राजस्व ही एकमात्र साधन बचा है।” पर्याप्त धन उपलब्ध कराने की राजनैतिक इच्छाशक्ति तभी से सुप्त पड़ी रही है।

1993 में मशहूर उन्नीकृष्णन मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला दिया था कि जीवन का अधिकार (संविधान का अनुच्छेद 21) को नीति निर्देशक तत्वों (अनुच्छेद 45) के साथ देखा जाए, तो 14 साल तक के बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार पहले से मौजूद है। राज्य की आर्थिक सामर्थ्य की बात 14 साल की उम्र के बाद ही उभरती है।

इस पर राज्य का प्रत्युत्तर 10 साल बाद 2002 में आया जब संविधान में 86वां संशोधन पारित किया गया। इसके ज़रिए अनुच्छेद 21-क जोड़ा गया जिसमें शिक्षा को 6-14 वर्ष के बच्चों का मौलिक अधिकार घोषित किया गया था। मगर शर्त यह रखी गई कि इस अधिकार का क्रियान्वयन राज्य द्वारा बनाए जाने वाले कानून के माध्यम से किया जाएगा।

जाहिर है, इस संविधान संशोधन ने सर्वोच्च न्यायालय के उपरोक्त निर्णय में बहुत कटौतियां कर दीं। जैसे, एक तो संविधान संशोधन ने 0-6 वर्ष आयु समूह को इस अधिकार के दायरे से बाहर कर दिया। दूसरा, जहां सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि शिक्षा का अधिकार पहले से मौजूद है, वहीं 86वें संशोधन ने इस अधिकार को एक ऐसे कानून के निर्माण के अधीन कर दिया जो राज्य चाहे तो बना सकता है। 2002 के बाद ऐसा कोई कानून बनाया नहीं गया है।

सबसे दुखद बात तो यह है कि 86वें संशोधन की अधिसूचना तक जारी नहीं की गई है। संप्रग सरकार द्वारा गठित केंद्रीय शिक्षा सलाहकार मंडल (केब) ने अगस्त 2005 में एक विधेयक बनाया भी था मगर प्रधान मंत्री ने इसे एक उच्च स्तरीय समूह को विचारार्थ भेज दिया ताकि इसके वित्तीय व अन्य पक्षों की छानबीन की जा सके। अचरज की बात है कि उच्च स्तरीय समूह का निष्कर्ष था कि केंद्र द्वारा एक केंद्रीय कानून की वित्तीय व्यवस्था करने का कोई औचित्य ही नहीं है। यह काम राज्यों को करना चाहिए। लिहाज़ा समूह की सिफारिश थी कि राज्यों को चाहिए कि वे एक आदर्श विधेयक के आधार पर अपने-अपने विधेयक पारित करें।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा इस तरह के विधेयक का एक निहायत लचर रूप तैयार करके प्रसारित भी किया गया था। इसके साथ भेजे गए पत्र में कहा गया था कि राज्य प्रारंभिक शिक्षा को, कानून और व्यवस्था के बाद, सर्वोच्च वित्तीय प्राथमिकता दें। अधिकांश राज्यों का जवाब नकारात्मक था। कुछ का कहना था कि केंद्र स्वयं अपनी सलाह पर अमल करे और शिक्षा को इस तरह की प्राथमिकता दे।

चूंकि 2006 में स्कूली शिक्षा पर राज्यों के कुल खर्च और केंद्र के खर्च का अनुपात 85:15 था (केंद्र के खर्च में सर्व शिक्षा अभियान फंड शामिल है), इसलिए यह बात तर्कसंगत लगती है कि केंद्र ज्यादा धन खर्च करे।

प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में 14 फरवरी 2008 को उच्च स्तरीय समूह की बैठक हुई थी। जनता के दबाव तथा कई अन्य कारणों की वजह से इस बैठक में यह निर्णय लिया गया कि संसद के चालू सत्र में एक केंद्रीय विधेयक लाया जाए। अगस्त 2005 में तैयार केब के मसौदे को पुनर्जीवित किया गया। चूंकि इसे लेकर राज्य सरकारों और लोगों की काफी प्रतिक्रियाएं प्राप्त हो चुकी थीं, इसलिए मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा गठित एक कार्य समूह ने इन्हें शामिल करके विधेयक का एक नया मसौदा तैयार किया।

केब के 2005 के मसौदे के प्रमुख पक्ष न्यूनतम गुणवत्ता, बेहतर डिजीवरी और समावेशी प्रकृति से सम्बंधित थे। कार्य समूह ने अधिकांश बातों को यथावत रखने की सिफारिश की है।

जैसे, अनिवार्य शिक्षा का मतलब होगा कि राज्य के लिए अनिवार्य होगा कि वह सबके लिए समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा की व्यवस्था करे;

स्कूल का न्यूनतम मानक अनिवार्य होगा - यानी कक्षा के लिए कमरे, शिक्षक-छात्र अनुपात, पुस्तकालय, खेल का मैदान, शिक्षकों की अर्हताएं वगैरह के मानक तय करना होंगे;

प्रत्येक स्कूल में एक प्रबंधन समिति होगी जिसमें तीन-चौथाई सदस्य वे पालक होंगे जिनके अपने बच्चे उस स्कूल में पढ़ते हैं;

शिक्षा की विषय वस्तु व प्रक्रिया संविधान में वर्णित मूल्यों के अनुरूप होगी;

मुफ्त शिक्षा का मतलब होगा कि कोई भी वित्तीय अड़चन बच्चे को स्कूल आने से वंचित नहीं करेगी;

कोई भी बच्चे को स्कूल जाने से नहीं रोकेगा;

पड़ोस के स्कूल की अवधारणा को क्रियान्वित किया जाएगा;

स्कूल में प्रवेश के लिए बच्चे की कोई परीक्षा नहीं होगी; और इस कानून के क्रियान्वयन की निगरानी एक स्वतंत्र आयोग द्वारा की जाएगी जो सीधे संसद को रिपोर्ट देगा।

सवाल है वित्तीय बोझ का, जिसके बहाने सत्तर साल पहले गांधीजी को चुप कराया गया था। गणनाओं से पता चलता है कि इस विधेयक को लागू करने का कुल खर्च सकल घरेलू उत्पाद यानी जी.डी.पी. के 6 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। संप्रग सरकार इतने का वायदा तो कर ही चुकी है। यदि यह असंभव या बरबादी पूर्ण खर्च लगता है, तो यह देखिए कि आज़ादी के 60 साल बाद 6-14 वर्ष के करीब 20 करोड़ बच्चों में से आधे तो प्रारंभिक शिक्षा के स्तर पर ही बाहर हो जाते हैं - वे या तो दाखिल ही नहीं होते या स्कूल छोड़ देते हैं। जो बच्चे टिके रहते हैं, उनमें से अधिकांश का उपलब्धि स्तर भी काफी शोचनीय है। लिहाज़ा वे 14 वर्ष की उम्र से काफी पहले ही उच्च शिक्षा की दौड़ से बाहर हो जाते हैं। ज्यादा विश्वविद्यालय अथवा कॉलेज उनके लिए कोई मायने नहीं रखते।

गुणवत्ता सुधार का एक आसान पैमाना हमें स्वयं सरकार के दोहरे वित्तीय मापदंडों में मिलता है। प्रारंभिक शिक्षा के स्तर पर किसी औसत सरकारी स्कूल में प्रति छात्र खर्च 2000 रुपए है। इसके विपरीत सरकार द्वारा संचालित केंद्रीय स्कूलों में यह 7000 रुपए है। गुणवत्ता में अंतर नज़र आता है। पहले कदम के रूप में सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उसके सारे स्कूल केंद्रीय स्कूल का स्तर हासिल करें।

उम्मीद की जानी चाहिए कि संप्रग सरकार के कार्यकाल के इस अंतिम दौर में प्रस्तावित मसौदे में ऐसे भारी फेरबदल नहीं किए जाएंगे जिनसे संसद में विधेयक को प्रस्तुत करने में और विलंब हो। यह भी उम्मीद की जानी चाहिए कि एक बार प्रस्तुत होने के बाद यह विधेयक सिलेक्ट कमेटियों में नहीं उलझेगा। यह भी ज़रूरी है कि हमारे सांसद दलगत राजनीति से ऊपर उठें और बच्चों के साथ सत्तर साल पहले किए गए अन्याय को दुरुस्त करें। (स्रोत फीचर्स)